

## पहला अध्याय

### आलोचना की अवधारणा

आलोचना का अर्थ है किसी भी वस्तु या कृति का समग्र मूल्यांकन। आलोचना साहित्य की महत्वपूर्ण विधा है। ग्रंथों की टीका - टिप्पणी तथा कृतियों की भूमिका के रूप में रचित समीक्षा का आधुनिक काल में पूर्ण विकास हुआ तथा आलोचना स्वतंत्र विधा के तौर पर स्थापित हुई। विकास की इस यात्रा में आलोचना विभिन्न पड़ावों से होकर गुजरी है। आलोचना की प्रक्रिया, परम्परा, पद्धतियां आदि को समझने से पहले आलोचना के अर्थ एवं परिभाषा को समझना आवश्यक है।

#### 1.1 आलोचना: अर्थ एवं परिभाषा

आलोचना शब्द का संयोजन आ+लो - चनम् से हुआ। लोचनम् लुच धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना। 'आ' प्रत्यय से शब्द संयोजित हुआ - आलोचना। 'आ' का अभिप्राय समन्नात, अतएव आलोचनम् का अर्थ - वस्तु या पदार्थ को चारों ओर से समग्रतः देखना। आलोचना के पर्यायवाची शब्द समीक्षा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'सम्यक निरीक्षण'। आलोचना के पर्यायवाची शब्द हैं - समीक्षा, समालोचना, मीमांसा, अन्वेषण आदि। आरंभिक दौर में आलोचना को समीक्षा कहा जाता था जिसमें कृति के गुण - दोषों का वर्णन ही होता था उसका पूर्ण मूल्यांकन या निर्णय नहीं। किसी कृति या वस्तु की सम्यक व्याख्या, सम्यक मूल्यांकन व निष्पक्ष समीक्षा ही आलोचना है। कृति के संबंध में बातचीत ही आलोचना है।

विद्वानों ने आलोचना शब्द का निर्माण इसके सरल व सहज रूप के कारण अर्थ के आधार पर किया परन्तु उसकी सीमाएं निर्धारित नहीं कीं। जैसे - जैसे समाज, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति व साहित्य में बदलाव आता गया आलोचना का स्वरूप, क्षेत्र बदलता गया और उसकी परिभाषा भी। भारतेन्दु व महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के आलोचकों की पुस्तकों के शीर्षकों से अनुमान लगाया जा सकता है वे समीक्षा शब्द का ही प्रयोग करते थे। उनकी समीक्षा में कृति के गुण - दोषों पर अधिक ध्यान रहता था, "हिंदी आलोचना के आरम्भिक युग में सामान्यतः यह धारणा प्रचलित

थी कि आलोचना का अर्थ कृति विशेष का गुण - दोष विवेचन मात्र है।”<sup>1</sup> समालोचना शब्द का प्रयोग द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी भी किया लेकिन आलोचना शब्द का प्रयोग बहुत बाद में रामविलास शर्मा व नगेन्द्र ने अपनी पुस्तकों शीर्षकों में किया। समय, परिस्थितियों तथा साहित्यिक युगों के साथ - साथ आलोचना का स्वरूप बदलता गया और उसकी परिभाषाएं भी।

‘आलोचना’ अंग्रेजी के क्रिटिसिज्म का पर्याय है जिसका अर्थ है मूल्यांकन अथवा निर्णय करना। पाश्चात्य समीक्षा में भी समीक्षा व आलोचना शब्दों का विकास हुआ है। अंग्रेजी में अनुमानतः बेकन का ‘Advancement of learning (1605)’ पहला पाठ है जो ज्ञान की परम्पराओं का जिक्र आलोचनात्मक और पाण्डित्यात्मक के रूप में करता है। बेन जॉनसन अपनी पुस्तक ‘Timber or Discoveries (1607)’ में विद्वान और उदार आलोचकों से अपील करते हैं, वे अरस्तु को पहला सही आलोचक मानते हैं। आलोचना शब्द का नये अर्थ में प्रयोग करते हुए ड्राइडन ने 1677 में अपनी पुस्तक ‘The State of Innocence’ की भूमिका में कहा - ‘आलोचना जिसकी स्थापना पहले अरस्तु ने की, का मतलब था - परख का मानक या परख की कसौटी’। पॉप ने ड्राइडन की बात का समर्थन किया, उनके अनुसार, “A perfect judge will read each work of it with the same spirit that its author write”<sup>2</sup> I.A. Richard के अनुसार, “To set up as critic Is to set up as a judge of value”<sup>3</sup>

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार, “साहित्य या ललित कलाओं में एक सुन्दर विषय के गुणों एवं मूल्यों का निर्माण करने की कला ही समीक्षा है, इसमें निर्णय की निर्मिति तथा अभिव्यक्ति निहित है।”<sup>4</sup> डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर में शिप्ले के कथन के अनुसार, “कलाकृति के उस संज्ञान मूल्यांकन या सराहना को समीक्षा कहते हैं जो या तो आलोचकों की व्यक्तिगत रुचि के या किन्हीं स्वीकृत सौन्दर्यपरक धारणाओं के अनुसार किया गया हो।”<sup>5</sup>

<sup>1</sup> डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 67

<sup>2</sup> योगेन्द्र प्रताप सिंह, हिन्दी आलोचना: इतिहास और सिद्धान्त, मैत्रेय पब्लिकेशन, दिल्ली, पृष्ठ - 16

<sup>3</sup> देवीशंकर अवस्थी, आलोचना का द्वन्द्व, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 80

<sup>4</sup> वही, पृष्ठ - 81

<sup>5</sup> वही, पृष्ठ - 81

डा. श्यामसुंदर दास ने साहित्य आलोचना को परोक्षतः जीवन की व्याख्या माना, “यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है।”<sup>1</sup> आलोचना को जीवन से जोड़ते हुए उन्होंने आलोचना प्रक्रिया की ओर संकेत किया। आलोचक रचना के माध्यम से जीवन तक पहुंचता है। आलोचक के आलोचना - मूल्य असल में उसके जीवन - मूल्य होते हैं। डा. नगेन्द्र ने आलोचना को कला एवं विज्ञान का संयोजन माना है जो ललित साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। स्वाभाविक तौर पर ललित साहित्य में रचनाकार का अपना व्यक्तित्व शामिल होता है।

डा. नामवर सिंह ने आलोचना को सामाजिकता से जोड़कर देखा। उन्होंने आलोचना को सामाजिक नियमों की गतिशीलता की खोज माना, “आलोचना केवल रचना की व्याख्या नहीं है बल्कि गहरे अर्थ में सामाजिक गतिशीलता के उन नियमों की खोज है जो रचना को संचालित और सम्बोधित करते हैं।”<sup>2</sup> आलोचना का काम सिर्फ रचना की व्याख्या करना मात्र नहीं है बल्कि आलोचना साहित्य के साथ - साथ इतिहास और परम्परा की खबर लेती रहती है, जो आलोचना का मुख्य काम है। इतिहास और परम्परा क्योंकि साहित्य को प्रभावित करते हैं इसलिए आलोचक को इतिहास और परम्परा का ज्ञान होना जरूरी है। डा. नामवर सिंह का मानना है, “आलोचना का एक काम है - इतिहास का, परम्परा का मर्म समझना - समझाना और उसे आगे की पीढ़ियों के बीच जीवित रखना।”<sup>3</sup> इतिहास और परम्परा के मर्म के जीवित रहने पर ही साहित्य तथा आलोचना की जरूरत बनी रह सकती है।

आलोचना किसी भी कृति का मूल्यांकन है जो कृति को नया अर्थ प्रदान करते हुए रचनाकार को नई दिशा देती है। आलोचना मात्र सिद्धान्त न होकर रचनात्मक कार्य है जो सृजनात्मकता के बिना सम्भव नहीं है। आलोचना में कृति की व्याख्या के साथ - साथ रचनाकार का मूल भाव तथा उद्देश्य भी उजागर होता है। आलोचना में रचना का भाव प्रकट होकर पाठकों

---

<sup>1</sup> देवीशंकर अवस्थी, आलोचना का द्वन्द्व, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 79

<sup>2</sup> कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. की भूमिका से

<sup>3</sup> नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 143

तक पहुँचता है। आलोचना की सृजनात्मकता के सम्बन्ध में दो तरह के तर्क चलते आ रहे हैं, कुछ विद्वान इसे सृजनात्मक मानने के पक्ष में हैं जबकि दूसरे नहीं।

जैसे - जैसे आलोचना के स्वरूप में बदलाव आया है वह सृजनात्मक हुई है। प्राचीन समाजशास्त्री जब ग्रंथों के भाष्य लिखते थे तो उसमें उनकी स्वयं की उपस्थिति न के बराबर होती थी। जैसे - जैसे आलोचना में विचारधारा का समावेश हुआ, उसमें भाषा के सवाल उठे, उसके केंद्र में विमर्श आए जैसे - जैसे उसकी नीरसता भी टूटी तथा आलोचना सृजनात्मक साहित्य की एक विधा मानी जाने लगी। आलोचना की सृजनात्मकता को समझते हुए आज लेखक इस पर स्वतंत्र रूप से पुस्तकें लिखने लगे हैं। काशीनाथ सिंह की कृति 'आलोचना भी रचना है' स्वतः ही आलोचना और रचना के सम्बन्ध को रेखांकित करती है।

विद्वान आलोचना की सार्थकता उसकी सृजनात्मकता में खोजने लगे हैं। इसी संदर्भ में आलोचक कमला प्रसाद का मानना है कि "कोई भी आलोचना रचनात्मक होकर ही सार्थक होती है किंतु उसके रचनात्मक होने का परिप्रेक्ष्य बाहर रहता है - समाज में।"<sup>1</sup> आलोचकों का मानना है कि सृजनात्मकता के बिना आलोचना संभव ही नहीं है। सृजनात्मकता ही आलोचना को पठनीय बनाती है, "आलोचना एक रचनात्मक कर्म है, यह दायम दर्जे का काम नहीं है। यदि आप में सर्जनात्मकता नहीं है तो आप आलोचना नहीं कर सकते।"<sup>2</sup> लम्बी बहस के बाद आज हिंदी में यह बात लगभग स्वीकार हो चुकी है कि आलोचना रचनात्मक विधा है।

## 1.2 आलोचना प्रक्रिया

साहित्य की रचना - प्रक्रिया की तरह आलोचना की भी रचना - प्रक्रिया होती है। साहित्यकार और आलोचक दोनों के केन्द्र में समाज होता है, लेकिन आलोचक रचना के माध्यम से समाज से जुड़ता है। आलोचक व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को वस्तुपरक निर्णय के साथ प्रकट करने की योग्यता रखता है। वह रचना के मूल्यांकन के उपरांत अपने निर्णय को स्पष्ट तौर पर प्रकट करता

---

<sup>1</sup> कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरे संस्करण की भूमिका से

<sup>2</sup> नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 150

है। कमला प्रसाद ने आलोचना की प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए लिखा है, “रचना की आलोचना की प्रक्रिया आस्वादन के बाद शुरू होती है। युग की सच्चाई से जुड़ा हुआ, उसके अंतर्विरोधों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में पहचानने वाला, कला की परम्पराओं से अनुस्यूत - आलोचक रचना के साक्षात्कार के बाद उसकी समग्रता को अपने अधीन कर लेता है। वह उसकी जाँच - पड़ताल में प्रवृत्त होता है।”<sup>1</sup> आलोचना की यह प्रक्रिया लगातार चलती रहती है, “आलोचना की दुनिया विचारों की दुनिया है और विचार के लिए चाहे गुरु - शिष्य परम्परा हो या विदग्ध लोगों का समुदाय, उनके बीच बातचीत और शास्त्रार्थ जरूरी है। बहस के जरिए एक पीढ़ी में जो सवाल उठते हैं, उनके जवाब अगली पीढ़ी को देने होते हैं।”<sup>2</sup> आलोचना कर्म में विचार - विमर्श ही आलोचना के भविष्य को निर्धारित करता है और लगातार विमर्श का रास्ता इसी से खुलता है।

आलोचक अपनी रुचि के अनुसार किसी आलोच्य कृति का चुनाव करता है, उसका अध्ययन करता है तथा उसके मर्म को ग्रहण करता है। रचना के अध्ययन - मनन के पश्चात उसे गहराई से अनुभव करना आलोचक का अगला महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसी से वह कृति के मुख्य पक्षों को उभारकर पाठक को सम्वेदित कर सकता है। क्योंकि, “रस किसी छन्द में नहीं, वह तो मानव - संवेदना के विस्तार में है। नायक - नायिका कवि जी की कल्पना में निर्माण होने के लिए नहीं हैं, प्रगतिशील संसार की नानाविध परिस्थितियों और सुख - दुख की तरंगों में डूबने उतराने और घुलकर निखरने के लिए हैं और काव्य - कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्दकोष के पन्ने उलटने में नहीं।”<sup>3</sup>

रचना का मूल्यांकन सिर्फ उसे पढ़कर या ग्रहण करके नहीं किया जा सकता बल्कि रचना के साथ - साथ उसके युग परिवेश, मूल्यों तथा रचना में व्याप्त अंतर्विरोधों की पहचान करके ही आलोचक रचना के साथ न्याय कर सकता है। आस्वादन के उपरांत आलोचक रचना - सत्य के

<sup>1</sup> कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 176

<sup>2</sup> नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 139

<sup>3</sup> आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी, इंडियन प्रेस पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, पृष्ठ - 56

माध्यम से रचना के युग की पहचान करता है। तत्कालीन समय की विभिन्न सामाजिक शक्तियों के बीच मौजूद संघर्ष व टकराहट को चिन्हित करता है।

आलोचक को रचनाकार के उस रवैये को समझना होता है जिससे वह सामाजिक जीवन के प्रति संवेदित हुआ है और यही नजरिया रचना की प्रासंगिकता तय करता है, “आलोचना कर्म में प्रवृत्ति के पूर्व या कृति विशेष का चयन करने में लेखक की सामाजिक दृष्टि अहम् भूमिका अदा करती है।”<sup>1</sup> आलोचक रचना की सामाजिक प्रासंगिकता की पड़ताल करता है। रचनाकार के समाज से जुड़ाव की पहचान करता है और पहचान करता है रचना में व्याप्त सामाजिक मूल्यों की। ये सामाजिक मूल्य ही रचना की जगह भी निर्धारित करते हैं।

युग परिवेश तथा मूल्यों की पड़ताल के बाद आलोचक के लिए एक और चीज की पड़ताल करनी जरूरी होती है, वह है रचना में व्याप्त अंतर्विरोध। कई बार जाने - अनजाने रचनाकार अपनी रचना में अंतर्विरोधों का शिकार हो जाता है। आलोचक का काम है इन अंतर्विरोधों की पहचान करते हुए पाठक तथा रचनाकार दोनों को इन अंतर्विरोधों से रबरु करवाना। अंतर्विरोधो या विरोधाभासों पर आधारित रचना बहुत समय तक टिक नहीं सकती इसलिए आलोचक का काम इन विरोधाभासों की पहचान करते हुए रचना तथा रचनाकार को इनसे मुक्त करना है।

कलात्मकता रचना का एक मुख्य पक्ष है। कलात्मकता ही पाठकों को रचना की तरफ आकर्षित करती है तथा उन्हें रचना से बांधे रखती है। बिना कलात्मकता के नीरस रचना को पढ़ना शायद ही कोई पसंद करे। रचना की कलात्मकता उसकी भाषा, शैली, बिम्ब प्रयोग आदि से बनती है। विषय - वस्तु को किस रूप में पाठक के सामने प्रस्तुत करना है, किस रूप में कृति अधिक ग्राह्य होगी तथा संदेश दे पाएगी, यह सब कलात्मकता के ही सवाल हैं। विधाओं, रूपों तथा भाषा - शैली के अलावा कृति में नए - नए प्रयोग, संवादात्मकता, भिन्न संयोजन आदि से रचना को कलात्मक बनाया जा सकता है। आलोचक साहित्यिक परंपराओं, रूढ़ियों व मूल्यों का ज्ञाता होता है, वह कलात्मक शक्ति और कमजोर पक्षों को रेखांकित करता है। आलोचक समय तथा पाठकों

---

<sup>1</sup> कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरे संस्करण की भूमिका से

की जरूरत तथा पसंद के आधार पर रचना में कलात्मकता की खोज करते हुए उसका मूल्यांकन करता है।

आलोचक का कार्य किसी कृति विशेष या रचनाकार विशेष के साहित्यिक - सामाजिक पक्षों का मूल्यांकन करना है। आलोचक कृति विशेष या रचनाकार विशेष का साहित्य की परंपरा में स्थान निर्धारण करता है। रचना के मूल्यांकन के लिए आलोचक उसके सभी पक्षों को परखता है। आलोचक रचना की विषय - वस्तु का मूल्यांकन करने के साथ - साथ यह भी देखता है कि रचनाकार ने साहित्यिक विधा में नए तरीके का कोई विशेष प्रयोग किया है या नहीं, “आलोचना का मुख्य लक्ष्य है कृति का आंतरिक सत्य उद्घाटित करना, अनुभूति की प्रामाणिकता और आधुनिक संवेदना के स्तर खोजना, अनुभूति और अभिव्यक्ति में कलात्मक अन्विति देखना।”<sup>1</sup> आलोचक का काम है कि वह अपने समय की रचनाशीलता को गहराई के साथ समझे। जिस समस्या का जिक्र रचना में होता है उसकी पृष्ठभूमि को जाने बिना रचना का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं है। आलोचक रचनाकार को सिर्फ दिशा ही नहीं दिखाता बल्कि उसका काम रचनाकार के सामाजिक - राजनैतिक दायित्वों को समझते हुए कृति का पूर्ण मूल्यांकन करना है।

आलोचक रचना के युग परिवेश, मूल्यों, अंतर्विरोधों को रचना की कलात्मकता में खोजता है तथा उसका मूल्यांकन करता है। अपने किए गए मूल्यांकन को प्रस्तुत करना आलोचक के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण तथा कठिन कार्य होता है। आलोचना के मूल्यांकन को आलोचक को इस रूप में प्रस्तुत करना होता है कि पाठक उसके मंतव्य को आसानी से ग्रहण कर सके, “रचना की जटिल संकुलता एवं अर्थस्तरों को स्पष्ट करके पाठकों को रचना का जो जीवंत बोध देकर ज्ञान के एक आयाम का विस्तार करती है - यही उसकी चरम सार्थकता है। इस सार्थकता के मूल में रचना और आलोचना की गहरी संपृक्ति स्पष्ट है।”<sup>2</sup>

रचना के साथ एकमेक होकर उसको पूर्णतः ग्रहण करके आलोचक अलग - अलग माध्यमों से रचना के मूल्यांकन को प्रस्तुत करता है। सबसे पहले आलोचक उसके लिए भाषा का

<sup>1</sup> डा. लक्ष्मीसागर वाष्णेय, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, पृष्ठ - 199

<sup>2</sup> मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (सम्पा.), देवीशंकर अवस्थी: संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, दिल्ली, पृष्ठ - 53

चुनाव करता है, एक ऐसी भाषा का चुनाव जिसे पाठक आसानी से समझ तथा ग्रहण कर सके। आलोचक रचना के मूल्यांकन में तथ्यों का भी विशेष ध्यान रखता है क्योंकि तथ्यों से ही रचना तथा आलोचना की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इन सबके बाद आलोचक का काम बचता है आलोचना में रोचकता पैदा करना। आलोचना अगर रोचक होगी तभी पाठकों द्वारा ग्राह्य होगी और तभी आलोचक का उद्देश्य भी पूर्ण होगा। इसलिए आलोचक रोचकता के साथ कृति के मूल्यांकन को पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। रोचकता से कृति पठनीय बनती है और पठनीयता से ही रचना और पाठक में संवाद और समन्वयता बनती है जिसका वाहक होता है आलोचक, “क्रोचे के अनुसार कृतिकार, कृति और पाठक समन्वित हैं। आलोचना इससे अधिक कुछ नहीं कर सकती कि वह समन्वय की राह में बाधाएं दूर कर दे।”<sup>1</sup> समन्वय ही रचना तथा आलोचना के विस्तार का मार्ग है और यही साहित्य की बढ़ोतरी का आधार भी है।

### 1.3 रचना और आलोचना का अन्तःसम्बन्ध

रचना और आलोचना का अन्योन्याश्रित संबंध है। रचना आलोचना को आधार प्रदान करती है, रचना से ही आलोचना के औजार विकसित होते हैं। सिद्धान्तों के आधार पर रचना का मूल्यांकन करके आलोचक रचनाकार के लिए नये आयाम खोलता है। रचना और आलोचना के अंतःसम्बन्ध से साहित्य का विकास होता है। रचना और आलोचना परस्पर संवाद से ही आगे बढ़ती हैं।

आलोचक एक रचनाकार भी है। आलोचक रचना का विवेक अर्जित करते हुए अपनी रचना को रूपाकार प्रदान करता है। देवीशंकर अवस्थी ने इस संबंध में अपना मत प्रकट किया है, “समीक्षक के लिए आवश्यक है कि वह लेखक के स्तर पर जाकर अपनी विश्लेषणप्रवण बुद्धि द्वारा इन नये विकासमान मूल्यों को चुनकर पाठक समाज के सामने उपस्थित कर सके।”<sup>2</sup> कमला प्रसाद ने रचना और आलोचना को परस्पर एक - दूसरे पर आधारित माना है रचना और आलोचना के संबंधों को द्वन्द्वात्मक मानते हुए वे लिखते हैं, “रचना में तत्वों की खोज आलोचक

<sup>1</sup> ने वेलोक (रूपांतरकार इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 207

<sup>2</sup> देवीशंकर अवस्थी, आलोचना का द्वन्द्व, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 17

करता है तथा आलोचना में जीवनी - शक्ति का समावेश रचना की अंतरंगता में डूबने से होता है। दोनों विधाओं का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है और इस सम्बन्ध से दोनों का भला होता है, यानी गति आती है।”<sup>1</sup>

रचना आलोचक को आकर्षित करती है, प्रभावित करती है और लिखने को मजबूर करती है। रचना में वो ताकत होती है जो आलोचक को बांध कर रखती है। रचना आलोचक को इतने कोणों से एक साथ प्रभावित करती है कि उसके बारे में अपनी राय लिखकर ही आलोचक को तृप्ति होती है। रतन कुमार पाण्डेय रचना की शक्ति और उसकी भूमिका को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि “कोई भी अच्छी एवं सफल रचना अपने परिवेश की यांत्रिकता, कृत्रिमता, अमानवीयता तथा अर्थहीनता के विरुद्ध इन्सानियत की आवाज होती है। ताकि वह जीवन की ऊब, अकेलेपन तथा अवसाद से मुक्त होकर पाठक के भीतर परिवर्तन की आकांक्षा तथा संघर्ष का माद्दा पैदा कर सके।”<sup>2</sup> रचना आलोचना के लिए सामग्री तो है ही वह आलोचना के लिए सिद्धांत निर्माण का आधार भी है।

किसी भी कृति की आलोचना करने से पहले आलोचक अपना एक दृष्टिकोण निर्मित करता है, और उसी दृष्टिकोण के तहत वह रचना की आलोचना में प्रवृत्त होता है, “किसी भी स्थान पर रहने वालों का जीवन और रचनात्मक साहित्य ही समीक्षा - सिद्धांत को जन्म देता है।”<sup>3</sup> रचना में व्याप्त विषय - वस्तु, जीवन मूल्यों, सामाजिक स्थितियों आदि के आधार पर आलोचक सिद्धांतों निर्माण करता है। सिद्धांत या दृष्टिकोण के आधार पर ही आलोचक कृति की सही व्याख्या प्रस्तुत कर सकता है। कृति की समुचित व्याख्या के लिए आलोचक का यह दृष्टिकोण विस्तृत होना चाहिए जिसमें व्यक्ति, समाज तथा विचारधारा का समावेश हो।

कलात्मक कर्म, सामाजिक चेतना, दर्शन, मानव रुचियों का परिष्कार इत्यादि रचना के वे मूल्य हैं, जिनसे रचनाकार रचना में मौजूद वर्ग चेतना, रचना का आदर्श, उसके उद्देश्य आदि को

<sup>1</sup> कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 176

<sup>2</sup> डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचक और आलोचना सिद्धांत, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका से

<sup>3</sup> वही, पृष्ठ - 17

पहचानता है। रचना में व्याप्त मूल्यों की तलाश करते हुए उनकी व्याख्या आलोचक करता है। रचना में विषय - वस्तु की तरह शिल्प भी महत्वपूर्ण है। जिस रचना में जितनी कलात्मकता होगी वह पाठक को उतना ही अधिक बांधने में समर्थ होगी, “कोई भी कृति बिना कलात्मक मूल्य के उच्चतम नहीं होगी।”<sup>1</sup> आलोचक का काम रचना में कला को ढूँढना और उसे उद्घाटित करना है। कला के महत्व की तरफ ध्यान दिलाना भी आलोचना का महत्वपूर्ण कार्य है।

जिस तरह से रचना आलोचना को आधार प्रदान करती है, आलोचना भी रचना के मर्म को समझकर उसे परम्परा में स्थापित करती है, “आलोचना अपने समय और परिवेश के संदर्भ में किसी रचना के मर्म बिन्दु तक पहुँचने की दृष्टि है।”<sup>2</sup> आलोचना कई काम एक साथ करती है। वह रचना को सामाजिक लक्ष्यों से जोड़कर उत्कृष्टता के लिए लड़ती है और रचनाकार को बेहतर लेखन के लिए प्रेरित करती है। आलोचना रचना की उपलब्धियों को रेखांकित करती है और खामियों के लिए सुझाव प्रस्तुत करती है।

आलोचक रचना और पाठक के बीच एक कड़ी का काम करता है। वह पाठक को रचना उपलब्ध करवाता है और रचना को पाठक। आलोचना रचना के लिए प्रचार का काम भी करती है। एक अच्छी रचना को आलोचक बढ़ावा देता है तथा पाठकों को पढ़ने के लिए प्रेरित करता है। रचना में छिपी सच्चाइयों को उजागर करते हुए आलोचक उसके महत्व को बढ़ा देता है। आलोचना रचना के लिए नए आयाम खोलती है।

साहित्य की एक समृद्ध परम्परा होती है, जिसमें कुछ कालजयी रचनाओं का स्थान निर्धारित होता है। महत्वपूर्ण रचनाएं अपना स्थान अनेक कालों तक परम्परा में बनाए रखती हैं। इस स्थान निर्धारण में आलोचना की भूमिका मुख्य होती है। कोई भी रचना महत्वपूर्ण बनती है अपनी पृष्ठभूमि, ऐतिहासिकता तथा सामाजिक सरोकारों से। इन मूल्यों के सकारात्मक उद्घाटन से रचना परम्परा में स्थापित होती है।

---

<sup>1</sup> कुंवरपाल सिंह (सम्पादक), साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, पिपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, पृष्ठ - 14

<sup>2</sup> डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचक और आलोचना सिद्धांत, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका से

रचना अपने समय के यथार्थ, पीड़ा, संघर्ष, चेतना आदि को वर्णित करती है रचना का यह वर्णन युग के सत्य को उजागर करता है। आलोचना रचना के इस सत्य की तुलना युग के सत्य से करती है और रचना तथा युग के परस्पर सम्बन्ध को रेखांकित करती है। आलोचना तथा रचना का सम्बन्ध नाभी - नाल का सम्बन्ध है। रचना नाभी (जिस पर आलोचना आधारित है) है तो आलोचना नाल (पालन - पोषण का माध्यम) है। कह सकते हैं कि दोनों के आपसी सम्बन्ध से ही साहित्य का उत्तरोत्तर विकास होता है। दोनों एक दूसरे के सहारे आगे बढ़ती हैं। रचना आलोचना को जमीन देती है तो आलोचना रचना को सींचती है।

#### 1.4 आलोचना और विचारधारा

विचारधारा शब्द अंग्रेजी के 'आइडियोलॉजी' का हिंदी अनुवाद है। इस शब्द का प्रयोग बीसवीं सदी के तीसरे - चौथे दशक में होना शुरू हुआ। माना जाता है कि विचारधारा शब्द का चलन मार्क्सवाद के साथ ही शुरू हुआ। इस सम्बन्ध में नामवर सिंह का कहना है, "मेरी जानकारी में मार्क्सवाद के आने के बाद आइडियोलॉजी के बारे में पूछा जाने लगा, मुक्तिबोध सवाल करते थे कि पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है? लोग कहते थे कि आपकी विचारधारा क्या है? 'विचारधारा' शब्द सामने आया और लोगों ने सुना कि मार्क्सवाद एक आइडियोलॉजी है।"<sup>1</sup> सिर्फ मार्क्सवाद ही नहीं प्रत्येक तरह का वाद या दृष्टिकोण विचारधारा ही है फिर चाहे वह प्रगतिशील हो या प्रतिक्रियावादी।

व्यक्ति के समूचे अनुभव का विशिष्ट अंग ही विचारधारा कहलाता है। जो उसकी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों से बनती है, "ऐन्द्रीय संवेदनाएं भावों को जगाती हैं, जिनकी अनुभूति से हमें नए अनुभव होते हैं और बुद्धि की कसौटी पर कसे जाने पर यह अनुभव ही विचार का रूप ग्रहण करते हैं।"<sup>2</sup> जिस समाज में व्यक्ति रहता है तथा कार्य करता है उसी समाज के अनुसार उसकी विचारधारा का निर्माण होता है। व्यक्ति की वर्गीय स्थिति उसकी विचारधारा व दृष्टि के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विचारधारा कोई राजनैतिक कार्यक्रम न होकर

<sup>1</sup> नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 16

<sup>2</sup> डा. सुधेश, साहित्य के विविध आयाम, नालंदा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 110

व्यक्ति की चेतना का ही विकास है, “वास्तव में एक वर्ग - विशेष के सामूहिक राजनैतिक कार्यक्रम को ही नहीं बल्कि व्यक्ति की समूची चेतना के वर्गीय स्वरूप को हमें विचारधारा की संज्ञा देनी चाहिए”<sup>1</sup> वर्गीय चेतना ही विचारधारा का रूप ग्रहण करके साहित्य में प्रकट होती है।

साहित्य चूंकि जीवन तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करता है, इसलिए वर्गीय स्थिति के चित्रण के साथ - साथ वर्गीय चेतना लाने का काम भी साहित्य करता है, “अपनी वर्ग स्थिति और चेतना के अनुरूप ही साहित्यकार अपने साहित्यिक विषयों का चुनाव करके उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। साहित्यकार अपनी ऐतिहासिक सामाजिक आवश्यकता के अनुसार ही अपने विषय चुनता है। साहित्य सृजन का आधार व्यक्तिगत होता है, परन्तु उसकी चेतना उस वर्ग में समाहित होती है जिसके भीतर कलाकार ने अनुभव प्राप्त किये हैं”<sup>2</sup> साहित्य शोषित - उत्पीड़ित वर्ग को जागरूक करते हुए उसे संघर्ष के लिए प्रेरित करता है। प्रगतिशील विचारधारा को पोषित करते हुए साहित्य वर्ग - संघर्ष में योगदान देता है, “प्रत्येक साहित्यकार एक वर्ग - विशेष के दृष्टिकोण को अपनाकर ही तत्कालीन जीवन - परिस्थितियों को समझने का प्रयास करता है। अच्छा साहित्यकार सभी वर्ग - गत पक्षपातों से उपर नहीं उठ जाता बल्कि अपने समय के सबसे अधिक प्रगतिशील वर्ग का पक्षधर होता है”<sup>3</sup> प्रगतिशील साहित्य सर्वहारा के पक्ष को साहित्य के माध्यम से उठाता है जबकि प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पक्षधर साहित्य उन शक्तियों का प्रचार मात्र बनकर रह जाता है, “मार्क्स के अनुसार साहित्य निरपेक्ष सत्ता नहीं, युगीन अर्थव्यवस्था और उससे नियमित सामाजिक तन्त्र की अभिव्यक्ति है। वह सामाजिक स्थिति का चित्र है और समाज को बदल सकने में समर्थ है। पूंजीपति वर्ग साहित्य को ऐसी विधि से संचालित करता है जिससे शोषण और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियां संवर्धित हों। मार्क्स सृजन प्रक्रिया को

<sup>1</sup> डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 7

<sup>2</sup> कुंवरपाल सिंह (सम्पा.), साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, पिपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, पृष्ठ - 13

<sup>3</sup> डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 20

अचेतन और यान्त्रिक नहीं मानता अपितु सृजन के क्षणों में कलाकार विवेकवान होकर सौन्दर्य गत नियमों के अनुरूप अपनी कृति का गठन करता है।<sup>1</sup> साहित्य का उद्देश्य समाज के पिछड़े वर्गों को जागरूक करना है। इसी से सामाजिक साहित्य के साथ जुड़ाव महसूस करता है।

साहित्य में सामाजिक स्वरूप का लेखा - जोखा विचारधारा के माध्यम से ही प्रकट होता है। कोई साहित्य ऐसा नहीं होता जिसमें कोई विचारधारा मौजूद न हो, “विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर दार्शनिक और साहित्यकार जीवन और जगत की अलग - अलग व्याख्याएं करते हैं। लेखक इसमें नए अर्थ भरते हुए उसे नए रूप और विकास प्रदान करता है। कोई सार्थक लेखन ऐसा नहीं होता जिसके पास जीवन और जगत की व्याख्या करने वाली विचारधारा न हो। हर साहित्य का अपना वैचारिक पक्ष होता है।”<sup>2</sup> रचना में सीधे तौर पर विचारधारा उजागर नहीं होती वह अप्रत्यक्ष रूप में गुंथी रहती है जो पाठक को प्रभावित करती है। विचारधारा साहित्य के स्वरूप एवं उद्देश्य को स्पष्ट करती है।

साहित्य रुपी शरीर में विचारधारा श्वास का कार्य करती है। जैसे श्वास की गति जीवन की गति का निर्धारण करती है उसी तरह विचारधारा का समावेश साहित्य की उपयोगिता को निर्धारित करता है, “जिस तरह समाज का विकास वर्ग संघर्ष से होता है उसी तरह साहित्य का विकास वैचारिक संघर्ष से होता है”<sup>3</sup> साहित्य में विचारों का यह संघर्ष लगातार चलता रहता है और उसी से लगातार नयापन आता रहता है, “प्रत्येक लेखक की कोई न कोई विचारधारा होती है और प्रत्येक रचना में कोई न कोई विचार होता है। बिना विचार के न कोई लेखक हो सकता है और न ही कोई रचना हो सकती है। विचारधारा एक जीवनदृष्टि होती है जो सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया को प्रभावित - संचालित करती है।”<sup>4</sup> विचारधारा रचना को पूर्णतः प्रभावित करती है और उसका मूल्य निर्धारण करती है। विचारधारा किसी पार्टी का नारा नहीं होती बल्कि सामाजिक परिस्थितियों तथा

---

<sup>1</sup> डा. नरेन्द्रदेव वर्मा, आधुनिक पाश्चात्य काव्य समीक्षा के उपादान, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृष्ठ - 42 - 43

<sup>2</sup> कुंवरपाल (सम्पा.), साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, पिपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, पृष्ठ - 12

<sup>3</sup> नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 255

<sup>4</sup> विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रचना के सरोकार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 213

टकरावों से उत्पन्न विमर्श होती है, जो समाज के रूपों को व्याख्यायित करती है, “विचारधारा की प्रक्रिया में सामाजिकता के सभी रूपों की सैद्धांतिक व्यावहारिक समझ निहित होती है।”<sup>1</sup>

साहित्य लेखन की तरह ही साहित्य के मूल्यांकन में भी विचारधारा मुख्य रूप से विद्यमान रहती है। साहित्य की आलोचना में यही विचारधारा मूल्यांकन का औजार बनती है, “साहित्यिक कृति के माध्यम से व्यक्त होने वाले किसी भी अनुभव में विचारधारा एक आधारभूत आयाम के रूप में विद्यमान होती है और रचना के मूल्यांकन में इस आयाम का महत्वपूर्ण स्थान होता है।”<sup>2</sup>

कृति के मूल्यांकन में विचारधारा का महत्वपूर्ण स्थान है। आलोचक रचना के बारे में जो राय पेश करता है वह उसकी विचारधारात्मक राय होती है। विचारधारात्मक तौर पर तटस्थता तथा प्रतिबद्धता की बात की जाती है वह भी विचारधारा का ही हिस्सा होती है। विचारधारा के कारण ही साहित्यालोचना में विभिन्न आलोचनात्मक पद्धतियों एवं सिद्धांतों का जन्म हुआ है।

## 1.5 आलोचना: प्रमुख सिद्धांत एवं पद्धतियां

साहित्य की व्याख्या तथा विश्लेषण के लिए आलोचना का विकास हुआ। आलोचना ने विचारधाराओं को आधार बनाकर साहित्य की अलग - अलग रूपों में व्याख्या की। विचारधारा के आधार पर आलोचना पद्धतियों तथा सिद्धांतों का निर्माण हुआ। साहित्य के अध्ययन के लिए विकसित विभिन्न आलोचनात्मक पद्धतियों का परिचय हम यहां देंगे। जिसमें मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी, अस्तित्ववादी, भाषा वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, उत्तर - आधुनिकतावादी आदि प्रमुख हैं।

### 1.5.1 मार्क्सवादी सिद्धांत एवं आलोचना

कार्ल मार्क्स विश्व के ऐसे चिंतक हैं जिनके विचारों व सिद्धान्तों ने पूरी दुनिया पर प्रभाव डाला। कार्ल मार्क्स (1818 - 1883) तथा फ्रेडरिक एंगेल्स (1820 - 1895) ने मिलकर 19वीं

<sup>1</sup> कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वंद्वत्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 27

<sup>2</sup> डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 24

सदी में इस सिद्धान्त को विकसित किया। मार्क्स तथा एंगेल्स ने 1847 - 48 में कम्युनिस्ट घोषणापत्र लिखा। मार्क्स की रचनाओं 'दास कैपिटल' तथा 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में मार्क्सवादी दृष्टि का परिचय मिलता है। मार्क्स का मानना है, "चेतना मनुष्य के अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।"<sup>1</sup> मार्क्स ने सामाजिक बदलाव की बात करते हुए कहा कि 'अब तक के दार्शनिक सृष्टि की केवल व्याख्या करते रहे हैं, लेकिन जरूरत इसे बदलने की है।'

कार्ल मार्क्स के दर्शन के तीन घटक हैं - द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष तथा अतिरिक्त उत्पादन का सिद्धांत। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में हीगल के विचारों को आत्मसात किया, "द्वन्द्ववाद बाह्यजगत और मानव चिंतन दोनों की गति के आम नियमों का विज्ञान है।"<sup>2</sup> मार्क्स के अनुसार प्रत्यय के नाम पर चिंतन की प्रक्रिया वास्तविक संसार की निर्माता नहीं है, बल्कि "विचार जगत, भौतिक जगत का मानव मस्तिष्क में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब है, जो चिन्तन के रूपों में बदल जाता है।"<sup>3</sup>

कार्ल मार्क्स आर्थिक आवश्यकताओं को इतिहास को निर्धारित करने वाली घटना मानते हैं। व्यक्ति और घटनाओं की बजाय वे आर्थिक परिवर्तन को राजनैतिक तथा सामाजिक बदलावों का आधार मानते हैं। समाज में शोषक और शोषित वर्ग में हमेशा संघर्ष रहता है। श्रम शोषित वर्ग करता है जबकि उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण शोषक वर्ग का होता है। शोषित के श्रम का फल शोषक वर्ग हड़प लेते हैं। मार्क्स का मानना है कि वर्गविहिन समाज के निर्माण से ही मानव - मुक्ति संभव है, "मार्क्सवाद वर्ग - विहिन समाज का हिमायती है, जिसे शोषण मूलक व्यवस्थाओं ने वर्गों में बांट रखा है।"<sup>4</sup> मार्क्स और एंगेल्स के बाद लेनिन, रोजा लकज़मबर्ग, माओ, ग्राम्शी आदि चिन्तकों ने मार्क्सवाद के विकास में योगदान दिया।

---

<sup>1</sup> डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 225

<sup>2</sup> सम्पत ठाकुर, मुक्तिबोध पुनर्मूल्यांकन, प्रगति प्रकाशन, आगरा, पृष्ठ - 20

<sup>3</sup> कार्ल मार्क्स, पूंजी (खण्ड - 1), प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृष्ठ - 20

<sup>4</sup> शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन: इतिहास तथा सिद्धांत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ - 45

मार्क्सवाद ने साहित्यिक आलोचना व पद्धतियों को काफी हद तक प्रभावित किया है। मार्क्सवादी आलोचना ने अपनी दृष्टि, यथार्थ बोध, सौन्दर्य बोध व विश्लेषण पद्धति के कारण आधुनिक साहित्य को नया मार्ग दिखाया। मार्क्सवाद ने साहित्य व उसके अध्ययन, मनन को प्रभावित किया। विश्व स्तर पर मार्क्सवादी आलोचना निरंतर विकास करती रही है, “मार्क्सवादी आलोचना के सबसे पहले आलोचक जर्मनी में फ्रांज मेहरिंग (1846 - 1916) थे और रूस में जार्जी प्लेखानोव (1856 - 1918) थे।”<sup>1</sup> ग्राम्शी, जार्ज लुकाच (जन्म - 1885) रेमंड विलियम, एडमंड विल्सन, क्रिस्टोफर काडवेल (1907 - 1937, Illusion And Reality), राल्फ फाक्स, फ्रेडरिक जैम्सन, टेरी ईगल्टन आदि ने विभिन्न आयाम जोड़कर मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध किया है।

मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है। हिन्दी में प्रगतिवादी आंदोलन की प्रेरणा मार्क्सवादी दृष्टि में छिपी थी। इसकी प्रेरणा से अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलाई। प्रेमचंद से लेकर यशपाल, भीष्म साहनी, नागार्जुन, शील, शिवमंगल सिंह सुमन, केदारनाथ अग्रवाल आदि ने सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टि से समझा और साहित्य में अभिव्यक्ति दी।

मार्क्सवादी समीक्षकों में रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, अमृतराय, शिवकुमार मिश्र, विशम्भरनाथ उपाध्याय, नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय, पुरुषोत्तम अग्रवाल आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

मार्क्सवादी आलोचना ने अपने आरंभ से साहित्य की आलोचना सामाजिक संदर्भों में की। मार्क्सवादी सिद्धांत साहित्य का सामाजिक जीवन से संबंध मानते हुए समाज के परिवर्तन में साहित्य की भूमिका को स्वीकार करता है। मार्क्सवाद साहित्य को केवल मनोरंजन व कला के लिए नहीं मानता, बल्कि जीवन से उसका गहरा जुड़ाव मानता है। प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद ने इसके मंतव्यों को उद्धाटित करते हुए कहा था कि “हमारी कसौटी

---

<sup>1</sup> रेने वेलेक (रूपान्तकार, इन्द्रनाथ मदान) आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 200

पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।”<sup>1</sup>

मार्क्सवादी आलोचना का मानना है कि रचनाकार अपने युग से पूर्णतः प्रभावित होता है। सामाजिक जीवन के जुड़ाव के बिना मार्क्सवादी साहित्य की कल्पना भी नहीं कर सकते। इस सन्दर्भ में मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा का कहना है, “साहित्य का पौधा चूँकि हमारी सामाजिक जीवन की धरती पर ही उगता है। अतः साहित्य का इतिहास सामाजिक इतिहास से अलग न होकर उसका एक अंग होता है।”<sup>2</sup> मार्क्सवादी आलोचना सामाजिक यथार्थ को महत्त्व देती है। मार्क्सवादी आलोचना रचनाकार से अपेक्षा रखती है कि वह सामाजिक जीवन को पूर्ण रूप से समझकर यथार्थ रूप में चित्रित करे जिससे साहित्य का क्रान्तिकारी रूप सामने आए।

मार्क्सवादी साहित्य की तरह मार्क्सवादी आलोचना का भी समाज से सीधा सम्बन्ध है। टेरी ईगल्टन का कहना है कि “यदि मार्क्सवाद का उद्देश्य समाज को समझना और बदलना है तो मार्क्सवादी आलोचना का भी यही उद्देश्य होना चाहिए।”<sup>3</sup> साहित्य के अध्ययन के लिए आलोचना इस प्रभाव को ग्रहण करती है, “आलोचना एक ओर आलोचक के वैचारिक आत्मसंघर्ष का माध्यम है तो दूसरी ओर विचारधारात्मक संघर्ष का साधन भी। विचारधारात्मक संघर्ष का साधक बनकर ही वह व्यापक सांस्कृतिक संघर्ष का हथियार भी सिद्ध होती है। एक मार्क्सवादी आलोचक आलोचना को सामाजिक - सांस्कृतिक संघर्ष में ‘आलोचना के हथियार’ के रूप में इस्तेमाल करता है। उसका आलोचनात्मक संघर्ष केवल साहित्य के लिए संघर्ष नहीं होता, वह मूलतः समाज व्यवस्था के बुनियादी बदलाव के लिए संघर्ष होता है। मार्क्सवादी आलोचना एक संश्लिष्ट वैचारिक दृष्टि की देन होती है। जिसमें विश्वदृष्टि और कला - दृष्टि की एकता होती है।”<sup>4</sup>

<sup>1</sup>प्रेमचन्द, कुछ विचार, डायमण्ड पॉकेट बुक्स, दिल्ली, पृष्ठ - 25

<sup>2</sup>डा. शिवकुमार मिश्र, प्रगतिवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 136

<sup>3</sup>शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 38

<sup>4</sup>मेनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 57

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में कला तथा साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवाद के प्रवेश के साथ हुआ। साहित्य के मूल्यांकन तथा व्याख्या की प्रचलित पद्धतियों की तुलना में सौंदर्य सत्ता के उद्घाटन, उसके सामाजिक आधारों की खोज, सामाजिक प्रभाव आदि का मूल्यांकन मार्क्सवादी आलोचना पद्धति समग्रता से करती है। मार्क्सवादी आलोचना का मानना है कि मनुष्य की आर्थिक स्थिति उसकी विचारधारा का निर्धारण करती है। कला, साहित्य तथा संस्कृति मनुष्य की विचारधारा के ही रूप हैं। अतः मनुष्य की स्थिति तथा विचारधारा को साहित्य के माध्यम से समझा जा सकता है। मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को समझने, व्याख्यायित करने का काम समतामूलक तरीके से करती है।

मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को किसी राजनैतिक कार्यक्रम से बांधने की पक्षधर नहीं है बल्कि वह साहित्य में मानव मूल्यों की खोज वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करती है। साहित्य की व्याख्या करते हुए मार्क्सवादी आलोचना उसके सौंदर्य का उद्घाटन करती है, उसके सामाजिक आधार तथा प्रभाव का आंकलन करती है तथा मानव जीवन के प्रति उसके उत्तरदायित्व का बोध करवाती है।

कृति के रूप तथा वस्तु पक्ष को लेकर विवाद हमेशा से हिंदी आलोचना में रहा है। कुछ आलोचक भावपक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं तो कुछ शिल्प को। मार्क्सवादी आलोचना किसी भी कृति की विषय - वस्तु को उसके स्वरूप से अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। इस दृष्टि के अनुसार विषय - वस्तु ही कृति के रूप का निर्धारण करता है, “साधारणतः विषय - वस्तु से हमारा तात्पर्य भावों एवं विचारों से होता है एवं उन समस्त भाषिक एवं विशेषताओं को रूप - विधान के नाम से समझा जाता है जो उन भावों और विचारों को सम्प्रेषित करती है।”<sup>1</sup>

कला, साहित्य तथा संस्कृति अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की विचारधारा का ही अंग हैं। डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल साहित्य में मार्क्सवाद को समाज को समझने तथा बदलने वाला विज्ञान मानते हुए ‘साहित्य और विचारधारा’ लेख में लिखते हैं, “शोषित - उत्पीड़ित जनसमूह सचेत और जागरूक होकर पतनशील बुर्जुवा चिंतन द्वारा पोषित विभ्रमों को त्यागने लगते हैं तो समाज के

---

<sup>1</sup> देवीशंकर अवस्थी, आलोचना और आलोचना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 24

यथास्थितिवादी तत्वों की यह भरसक कोशिश होती है कि साहित्य को स्वस्थ सामाजिक मूल्यों का वाहक तथा बहुसंख्यक जनता की चेतना को विकसित करने का माध्यम न बनने दिया जाये।<sup>1</sup> साहित्य संबंधी अनेक समस्याओं का समाधान मार्क्सवादी चिंतन प्रणाली में मौजूद है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने का मतलब यह नहीं है कि साहित्य को राजनैतिक कार्यक्रम में बांध दिया जाए बल्कि मार्क्सवादी प्रभाव का अर्थ है साहित्य तथा समाज को समझने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना।

### 1.5.2 मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत एवं आलोचना

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है जो हरेक चीज के बारे में जानना - समझना चाहता है। मनुष्य के मन को समझने वाले विज्ञान या दर्शन को मनोविज्ञान कहते हैं। मनोविज्ञान के सिद्धान्तों ने अनेक सर्जनात्मक साहित्यकारों को प्रभावित किया है, “मनोविज्ञान क्या है - लोगों के दैनंदिन जीवन में प्रकट होती संवेदनाओं, आचरण के तरीकों, मनःस्थितियों, विचारों, क्रियाकलापों और अनुभवों का योग।”<sup>2</sup>

देवराज उपाध्याय के अनुसार, “मन के प्रति मानव की चिन्ता को समझने - समझाने, देखने - बूझने का प्रयत्न ही मनोविज्ञान है।”<sup>3</sup> लाल जी शुक्ल अचेतन क्रियाओं के अध्ययन को मनोविज्ञान कहते हैं, “मनोविज्ञान मन की चेतन तथा अचेतन क्रियाओं का अध्ययन अपरोक्ष अनुभूति व बाह्य क्रियाओं के निरीक्षण द्वारा करता है।”<sup>4</sup> रेने वेलेक ने मनोविश्लेषणवाद के संदर्भ में कहा है कि “यह साहित्य का पाठ सतह के नीचे से करता है, यानी इससे परदा उठाता है। फ्रायड ने स्वयं मनोविश्लेषणवादी आलोचना की मूल भावनाओं का सुझाव दिया था। कलाकार मानसिक रोगी होता है जो अपनी सृजनात्मक प्रक्रिया के कारण टूटता तो नहीं है, वह इसके वास्तविक

---

<sup>1</sup> डा. ओमप्रकाश प्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 7

<sup>2</sup> कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वंद्वत्मकता, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ - 26

<sup>3</sup> देवराज उपाध्याय, आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान, साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 40

<sup>4</sup> लाल जी शुक्ल, सरल मनोविज्ञान, नंदकिशोर ब्रदर्स प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ - 4

उपचार से भी दूर रहता है। कवि दिवास्वप्न देखता है और अपनी फंतासियों को प्रकाशित करता है और इस तरह वह अनोखे तौर पर समाज में स्थापित होता है।”<sup>1</sup>

मनोविश्लेषणवादी चिंतकों में मुख्यतः फ्रायड, एडलर और युंग का नाम लिया जा सकता है। जिन्होंने इस सिद्धांत को अलग - अलग रूपों में विश्लेषित किया है, सिग्मण्ड फ्रायड ने इसे ‘अचेतन की अन्धी गलियां’ कहा है, एडलर ने ‘हीनता का बोध तथा कार्ल युंग ने इसे ‘मानसिक ऊर्जा’ माना है।

फ्रायड ने मनोविश्लेषण के अंतर्गत कला साहित्य की रचना प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए इन्हें कामवृत्तियों की अभिव्यक्ति कहा है। मनुष्य की दमित भावनाएं जब तृप्त नहीं हो पाती तो वे कुंठा में बदल जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में यह कुंठा विद्यमान होती है लेकिन सामाजिक वर्जनाओं के डर से व्यक्त नहीं हो पाती। कलाकार तथा साहित्यकार इन्हें अपनी रचनाओं में व्यक्त करते हैं। इस संबंध में एडलर फ्रायड से भिन्न मान्यता रखते हैं। एडलर वैयक्तिक मनोविज्ञान के जनक माने जाते हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति को विलक्षण व उसके जीवन प्रवाह को उद्देश्यपूर्ण मानते हैं, “एडलर और फ्रायड की मान्यताओं में मौलिक अन्तर है, जहां फ्रायड कामवृत्ति को ही जीवन की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हैं वहां एडलर आत्मप्रकाशन की मूलप्रवृत्ति को जीवनगत व्यवहारों का मूल उत्स मानते हैं।”<sup>2</sup> युंग ‘कामवृत्ति’ तथा ‘अहंस्थापन’ दोनों को ‘लिबिडो’ के अन्तर्गत लेते हैं। वे इसे ऐसी प्रेरक शक्ति मानते हैं जो मनुष्य के व्यवहार में प्रकट होती है। युंग ने व्यक्ति के दो प्रकार माने हैं - अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारों तथा भावनाओं में केन्द्रित, कल्पनाशील तथा भावुक होते हैं जबकि बहिर्मुखी व्यक्ति क्रियाशील, व्यवहारकुशल तथा समाजप्रिय होते हैं।

मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव साहित्य की सभी विधाओं पर पड़ा। हिंदी में इलाचन्द्र जोशी, देवराज उपाध्याय, डा. नगेन्द्र, अज्ञेय आदि मनोविश्लेषणवादी रचनाकार हैं।

अज्ञेय कलाकार की आंतरिक प्रेरणा तथा कला को जोड़कर देखते हैं, “‘अज्ञेय’ की आलोचनात्मक दृष्टि के अनुसार कला और साहित्य को किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता है,

<sup>1</sup> रेने वेलेक (रुपांतकार, इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 202

<sup>2</sup> डा. नरेन्द्रदेव वर्मा, आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृष्ठ - 40

क्योंकि वह कलाकार या साहित्यकार की आंतरिक प्रेरणा से उदभूत होती है और फलतः उसकी अनन्त संभावनाएं हैं”<sup>1</sup> मनोविश्लेषणवादी रचनाकारों ने मुक्त चेतना, फैण्टेसी, स्वप्नों का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है। मनोविश्लेषणवादी आलोचना का उद्देश्य लेखक तथा उसकी रचना में आए पात्रों की मनः स्थिति का विश्लेषण करना है। मनोविश्लेषणवादी आलोचकों का मानना है कि साहित्य निर्माण व्यक्ति के अवचेतन मन की प्रेरणा के आधार पर होता है।

### 1.5.3 अस्तित्ववादी सिद्धान्त एवं आलोचना

अस्तित्व शब्द अंग्रेजी के ‘Existentialism’ का हिन्दी पर्याय है, जो मूलतः दर्शनशास्त्र का शब्द है। अस्तित्ववादी आलोचना का जन्म बीसवीं सदी में हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद निराशा, भय, कम्पन के माहौल ने जर्मनी तथा फ्रांस में अस्तित्ववाद को जगह दी।

धर्म एवं समाज की मान्यताएं मनुष्य के जीवन तथा विकास को अवरुद्ध कर रही थीं, इन्हीं मान्यताओं का विरोध करते हुए अस्तित्ववादियों ने मनुष्य की स्वतंत्र तथा प्रकृत सत्ता को महत्त्व दिया, “अस्तित्ववादी, व्यक्ति का अस्तित्व किसी बाह्य सत्ता के अधीन नहीं मानते। उनके अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता तथा अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी स्वयं है।”<sup>2</sup> अस्तित्ववादी चिंतक सारेन कीर्केगार्ड, नीत्से, मार्टिन हेडेगर, गेब्रियल मार्सल, ज्यां पाल सार्त्र, अल्बर्ट कामू, मैक्स कूमेरेल, रेमंड, हर्टमान आदि ने समय - समय पर भाग्य तथा ईश्वर पर सवाल उठाए हैं।

जर्मनी में धार्मिक चिन्तक सारेन कीर्केगार्ड (1813 - 1855) अस्तित्ववादी सिद्धान्त से दूसरे दशक से ही परिचित थे, उन्होंने नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओं का सर्वप्रथम विरोध किया। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति से तकनीक तथा विज्ञान का विकास हुआ, जिसने मनुष्य के अस्तित्व को गौण कर दिया, वह पूर्णतः मशीन पर आश्रित होने लगा। कीर्केगार्ड ने इस परिस्थिति में मनुष्य के स्वच्छंद अस्तित्व की बात उठाते हुए धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों तथा आदर्शवाद का विरोध किया। जर्मन दार्शनिक नीत्से (1844 - 1900) ने

<sup>1</sup> डा. लक्ष्मीसागर वाष्णेय, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, पृष्ठ - 200

<sup>2</sup> डा. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 47

अस्तित्ववादी विचारधारा का खुलकर समर्थन किया। उन्होंने 'सुपर मैन' की कल्पना की तथा ईश्वर के अस्तित्व को नकारा। नीत्से ने घोषणा की कि 'ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है।'

मार्टन हेडेगर ने अपनी पुस्तक 'SeinundZeit (1927)' में मनुष्य के अस्तित्व को सर्वोपरी माना। फ्रांस में ज्यां पाल सार्त्र ने अपनी पुस्तक 'Quest - ce que la litterature (1948)' में अस्तित्ववाद पर विस्तृत चर्चा की। इस पुस्तक में सार्त्र ने कला की पराभौतिक धारणा पर बल दिया। सार्त्र उस संसार की उपलब्धता चाहता है जो हमें दिखाई नहीं देता। कला को बहुत महत्त्व न देकर सार्त्र उसे माया, अवास्तविक और छाया संसार को सृजित करने वाली तथा संदिग्ध मानता है। सार्त्र उन धार्मिक, नैतिक व सामाजिक मूल्यों का विरोधी है जो मनुष्य की स्वतंत्रता छीनते हैं, तथा उसे नीतिपरक उपदेश देकर उसकी स्वच्छंदता को खत्म करते हैं।

सार्त्र के बाद प्रतीकवाद तथा अतियथार्थवाद के साथ जुड़कर अस्तित्ववाद का सही रूप में विकास हुआ। जर्मन विद्वान मैक्स कूमरेल (1902 - 1944) ने कविता का अध्ययन आत्मज्ञान के रूप में किया। रेमंड की पुस्तक 'De Baudelaire au Surrealisme (1935)' में कृति के विश्लेषण की बजाय चेतना के अन्वेषण तथा कृतिकार की अस्तित्व सम्बन्धी भावनाओं का अध्ययन है। हर्टमान अपनी पुस्तक 'The Unmediated Vision (1954)' में अस्तित्व की समझ अपनी तत्कालीनता में मानते हैं।

अस्तित्ववाद की आन्तरिक दृष्टि मानवीय आत्मा की दशा के बारे में है। इनका मानना है कि अगर ईश्वर का अस्तित्व न रहे तो मनुष्य पर नियंत्रण भी नहीं रहेगा और वह बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अस्तित्ववादी चिंतक ज्ञान - विज्ञान के महत्त्व को भी अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि अस्तित्व बोध में बाधक बनने वाली प्रत्येक चीज निरर्थक है। अस्तित्ववादियों का मानना है कि मानव की स्थिति जानने के लिए किसी भी सहारे की आवश्यकता नहीं है।

अस्तित्ववादी कहते हैं कि किसी भी प्रकार की उन्नति मनुष्य को पूर्ण संतुष्टि नहीं दे सकती। अस्तित्ववादी मनुष्य की स्वच्छंदता के पक्षधर हैं फिर चाहे ये स्वच्छंदता उन्हें मृत्यु की तरफ उन्मुख कर दे। मृत्यु को भी वे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं, "चयन की स्वच्छंदता

अथवा वैयक्तिक स्वच्छंदता ही चूंकि अस्तित्ववादी दर्शन का प्राणतत्व है, इसलिए उनके साहित्य में घोर अराजकता, उन्मुक्त भोग, यौनाचार, नास्तिकता, असामाजिकता, विज्ञान - विरोधिता आदि अनेक अनाचारी एवं अवांछनीय तत्वों की बहुलता पाई जाती है।”<sup>1</sup>

अस्तित्ववाद साहित्य में व्यक्तिवादी, अंतर्मुखी, आत्मकेन्द्रित विचारधारा का समर्थक है। इनके अनुसार मुक्ति का साहित्य वही साहित्य है जिसमें परंपरागत मूल्यों, धर्म, समाज, नैतिकता आदि निरर्थक धारणाओं का विरोध हो। अस्तित्ववादी मानव जीवन को निराशामय तथा दुखद मानते हैं। मानव के दुख, यातना, संत्रास, एकाकीपन आदि को वे जीवन का अनिवार्य हिस्सा मानते हैं और मृत्यु को जीवन की सीमा।

सिमोन द बोउवार, अल्बेयर कामू, ज्यां पाल सार्त्र, फियोडोर दोस्तोएवस्की, फ्रांज काफ्का आदि पाश्चात्य साहित्यकार अस्तित्ववाद से प्रभावित रहे। हिन्दी साहित्य में नई कविता ने अस्तित्ववाद से प्रभाव ग्रहण किया। अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, जैनेन्द्र, कुंवर नारायण, भारत भूषण अग्रवाल, धर्मवीर भारती, दुष्यंत कुमार आदि की रचनाओं में अस्तित्ववादी प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं।

#### 1.5.4 भाषा वैज्ञानिक/शैली वैज्ञानिक सिद्धांत एवं आलोचना

बीसवीं सदी में आलोचना की एक प्रवृत्ति को भाषिकी कहा गया जो कालांतर में भाषावैज्ञानिक आलोचना कहलाई। उसी समय एक पंक्ति, “कविता विचारों से नहीं शब्दों से लिखी जाती है।”<sup>2</sup> बहुत प्रसिद्ध हुई जिसे मलार्ने ने काफी गम्भीरता से लिया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूस में भाषा अध्ययन के लिए एक समिति बनाई गई। इस समिति के सदस्यों ने स्वर - व्यंजन की लय, गद्य भाषा, छन्दों आदि का अध्ययन किया। भाषा वैज्ञानिक पद्धति को सस्युर और रुसी भाषाशास्त्रियों ने विकसित किया। भाषा विज्ञान के आधार पर कृति के अध्ययन के लिए इन्होंने अनेक पद्धतियां विकसित की।

<sup>1</sup> डा. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 47

<sup>2</sup> रेने वेलेक (रुपांतरकार - इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 203

कार वोसलर (1872 - 1949) ने भाषा और कला के आधार पर कृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया। इन्होंने वाक्य और शैली विज्ञान की पद्धतियां स्वयं इजाद की। लियो स्पिटजर (1887 - 1960) ने शैली वैज्ञानिक पद्धति का विकास किया। स्पिटजर शैली तथा व्याकरण के आधार पर किया गया अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है। हालांकि बाद में वे स्वयं अपनी पद्धति को रद्द करते हुए शैली को सतह पर ले गए और साहित्यिक कृतियों का अध्ययन संरचना के आधार पर करने लगे। इरिच आयरबाच (1892 - 1957) ने कृतियों का अध्ययन भाषा - विज्ञान के आधार पर ही किया। जर्मनी में भाषा वैज्ञानिक दामासो (1898) अलोन्सो ने आलोचना को शैली विज्ञान से जोड़ा। आई. ए. रिचर्ड (1893) ने अर्थ के सिद्धान्त को विकसित किया। उनका स्नायु विज्ञान के विकास पर आधारित सिद्धान्त अधिक समय तक चल न सका। लेकिन इनके अर्थवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रभाव अमेरिकी आलोचकों पर पड़ा। हिंदी में भोलानाथ तिवारी ने भाषा विज्ञान पर काम किया, “कविता भाषा के स्रोतों का अधिकतम उपयोग करती है, कविता अपने को साधारण भाषा से ध्वनि और छन्दों और बिम्बावली के सब उपकरणों द्वारा दूर कर लेती है। काव्य - भाषा भाषा में भाषा है, भाषा जिसका पूरी तरह रूपीकरण हो चुका है। वेलेर के अनुसार कविता कलन और अभ्यास दोनों है, एक क्रीड़ा भी है और एक गीत है, एक आलाप है, एक जादू है, एक मोहिनी है।”<sup>1</sup>

### 1.5.5 समाजशास्त्रीय सिद्धांत एवं आलोचना

समाजशास्त्र समाज को समझने वाले एक विज्ञान की तरह है। अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, मानव विज्ञान, दर्शनशास्त्र के आपसी संबंधों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाला शास्त्र समाजशास्त्र है। साहित्य अनुभव तथा विचार के संयोजन से समाज का चित्र हमारे सामने पेश करता है। समाजशास्त्रीय चिंतकों में लूसिए गोल्डमान, लियो लॉर्वेथल तथा रेमण्ड विलियम हैं। साहित्यकार समाज को प्रभावित करने वाले तत्वों राजनीति, धर्म, दर्शन पर विचार करते हुए समाज तथा जीवन का समग्र चित्रण करता है। समाज तथा जीवन को प्रभावित करने वाले तत्वों से

<sup>1</sup> वेलेक (रूपांतरकार - इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 208

साहित्य का सीधा संबंध है। दर्शन से वह जीवन को समझने की दृष्टि पाता है, मनोविज्ञान से मन की स्थिति समझता है तथा राजनीति एवं अर्थशास्त्र से सामाजिक परिस्थितियों की समझ पाता है। समाज, धर्म, राजनीति, अर्थ, दर्शन आदि के माध्यम से साहित्य जीवन को समग्रता में देखता तथा व्याख्यायित करता है। जीवन को समग्रता से समझने तथा रूपायित करने की इस साहित्यिक दृष्टि को समाजशास्त्र कहते हैं।

समाजशास्त्र मात्र समाज के आंकड़े ही पेश नहीं करता बल्कि सामाजिक परिस्थितियों एवं मानव मन के अंतर्संबंधों को पहचानकर उनकी व्याख्या करता है। समाज के केंद्र में मनुष्य है और उसके इर्द - गिर्द मनुष्य को प्रभावित करने वाली परिस्थितियां। समाजशास्त्र मनुष्य तथा उसकी सामाजिक परिस्थितियों के आपसी संबंधों की पहचान करता है। समाजशास्त्रीय आलोचना सामाजिक मूल्यों के साथ - साथ सामाजिक तथ्यों को साहित्य के लिए आवश्यक समझती है, “टेरी इगल्टन के अनुसार साहित्य के समाजशास्त्र को समझने की दो दृष्टियां सकती हैं, पहली यथार्थवादी दृष्टि जिसके अनुसार साहित्य के सामाजिक संदर्भों का गहराई से अध्ययन होता है। इस विधि के अनुसार साहित्य का कोई भी आलोचनात्मक मूल्यांकन जिसमें उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य को नजरअंदाज किया गया हो, सहज ही अधूरा होगा। उनके अनुसार साहित्य के अध्ययन की दूसरी दृष्टि हठाग्रही या उपयोगितावादी होती है। इसके अनुसार साहित्य सभी तरह की वस्तुओं और सामाजिक संदर्भों से जुड़कर आकार ग्रहण करता है।”<sup>1</sup>

समाजशास्त्रीय आलोचना की जीवन सापेक्षता एवं व्यापकता को देखते हुए ही साहित्यिक मूल्यांकन के लिए इसे महत्वपूर्ण माना गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टि साहित्य को सामाजिक यथार्थ से निर्मित मानती है तथा इसी आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करती है। सामाजिक भावसत्ता के अंदर ही साहित्य का आस्वाद निहित होता है। सामाजिक भावसत्ता में व्यक्ति मन के अनुभव शामिल होते हैं। व्यक्ति लोक या समाज का ही हिस्सा है इस संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने लोकहृदय की थाह लेने वाले साहित्यकार को अच्छा माना है।

<sup>1</sup> डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 379

समाजशास्त्रीय आलोचना का जन्म आधुनिक काल में हुआ माना जाता है। आधुनिक काल में साहित्य सामाजिक यथार्थ से जुड़ने लगा था। भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक निबंध में जन-रुचि की बात की। जनरुचि के आधार पर साहित्य में बदलाव शुरु हो चुका था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य की व्याख्या करते हुए सामाजिक जीवन के भाव - बोध को साहित्य जीवनी माना। द्विवेदी जी ने साहित्य को मानव तथा समाज से जोड़कर देखा है तथा साहित्य के सौंदर्य के मूल में सामाजिक सौंदर्य को माना है। शुक्ल जी ने सही अर्थों में साहित्य को सामाजिक जीवन से जोड़कर देखा। उन्होंने साहित्य में लोक को प्रतिष्ठित करते हुए साहित्य और समाज के आंतरिक संबंधों को समझा। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखते हुए उन्होंने सभी कालों की परिस्थितियों को साहित्यिक प्रवृत्तियों से जोड़ा। उन्होंने लोक को साहित्य की शक्ति माना। लोक हृदय की पहचान करके ही साहित्य सामाजिक जीवन से जुड़ सकता है। 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में मैनेजर पाण्डेय समाजशास्त्रीय आलोचना को स्वतंत्र सिद्धांत मानते हुए कहते हैं, "समाजशास्त्री भले ही साहित्य के समाजशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा समझें लेकिन वास्तविकता यह है कि अब वह समाजशास्त्र से स्वतंत्र एक साहित्य की विधा के रूप में विकसित हो रहा है।"<sup>1</sup> समाजशास्त्रीय आलोचना साहित्य का महत्त्व सामाजिकता में खोजती है। समाजशास्त्रीय आलोचना सामाजिक संस्थाओं के संदर्भ में ही समाज तथा साहित्य की परस्पर व्याख्या करती है। हिंदी के समाजशास्त्रीय आलोचकों में डा. नगेन्द्र, बच्चन सिंह, निर्मला जैन तथा मैनेजर पाण्डेय का नाम लिया जा सकता है। मैनेजर पाण्डेय ने नामवर सिंह को हिंदी में समाजशास्त्र के प्रस्तोता माना है। समाजशास्त्रीय पद्धति को साहित्य की सटीक आलोचना पद्धति मानते हुए डा. अमरनाथ कहते हैं कि "साहित्य को सामाजिकता से अलगाकर उसकी एक स्वतंत्र पहचान का ढिंढोरा पीटनेवालों को यह बात समझनी चाहिए कि जब साहित्य या सामाजिक अस्तित्व ही संकट में आता जा रहा है तो उसकी स्वतंत्र पहचान की रक्षा सामाजिक गुत्थियों से उसके पेंचीदा संबंधों को सुलझाए बिना संभव नहीं है।"<sup>2</sup> फिर भी कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी आलोचना की सी राजनैतिक तथा अर्थशास्त्रीय दृष्टि इसके पास नहीं है।

<sup>1</sup> डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 379

<sup>2</sup> वही, पृष्ठ - 381

### 1.5.6 उत्तर - आधुनिकतावाद

अंग्रेजी के Postmodernism को हिंदी में उत्तर - आधुनिकतावाद कहा गया है। उत्तर आधुनिकवाद के स्वरूप को समझना आसान नहीं है। विश्व तथा हिंदी के चिंतकों द्वारा इसे अलग - अलग तरीके से समझने का प्रयास किया गया है तथा इसकी बहुत सारी व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं, “एक की निगाह में उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता का अगला चरण है तो दूसरे की निगाह में आधुनिकता से मुक्ति”<sup>1</sup>

उत्तर - आधुनिकतावाद को चिंतकों ने सिर्फ आधुनिकतावाद की उत्तरस्थिति न मानकर सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करने वाली एक स्वतंत्र शैली माना है, “उत्तर - आधुनिकता ऐसी वस्तुस्थिति है जो केवल आधुनिकता की उत्तर - स्थिति तक सीमित नहीं है। यह कहीं अधिक व्यापक पैमाने का ऐसा उत्तरवाद है जिसने अपनी पहचान पूरी जीवन - शैली में व्याप्त होकर कायम की है। औद्योगिकता, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, संरचनावाद जैसी तमाम स्थितियों और वैचारिकताओं के संदर्भ में यह उत्तर स्थिति है - एक विराट ‘उत्तरकांड’।”<sup>2</sup>

उत्तर - आधुनिकतावाद की कोई एक परिभाषा नहीं क्योंकि वह समग्रतावाद का विरोधी है। कोई उसे छलना कहता है। किसी के लिए चिन्हों की लीला है। किसी के लिए तर्क - इतिहास का अंत है। किसी के लिए विखण्डन है। किसी के लिए बहुलतावाद है। किसी के लिए महावृत्तांत का अंत है, “उत्तर - आधुनिकतावाद की न कोई निश्चित सैद्धांतिकी है न परंपरागत अर्थ में कोई शास्त्र। उत्तर - आधुनिक परिदृश्य में, यह वस्तुस्थिति के प्रति एक तरह की मानसिकता है जो हमारे जीवनगत व्यवहार और आचरण में प्रतिफलित होती है। इस मानसिकता का कोई विचारधारात्मक आधार नहीं है क्योंकि इसका एक महत्वपूर्ण लक्षण विचारधारा - मात्र का निषेध है।”<sup>3</sup> उत्तर आधुनिक चिंतकों में जैम्स लाकां, जैक्स देरिदा, जां फ्रात्सुवा ल्योतार, हर्बर्ट मारक्यूज, मिशेल फूको, हैबरमास, बौद्रिआ आदि प्रमुख हैं।

<sup>1</sup> डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली पृष्ठ - 77

<sup>2</sup> निर्मला जैन, काव्य - चिंतन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 185

<sup>3</sup> वही, पृष्ठ - 185

उत्तर - आधुनिकतावाद का मानना है कि विचारधारा से सम्बद्ध होकर साहित्य ठस्स हो जाता है। 'एलियट' ने उपन्यास की तो 'विल्सन' ने काव्य मौत की घोषणा की, "उत्तर - आधुनिकता के माहौल में गत पच्चीस वर्षों से भी अधिक अरसे से टैक्नोलॉजी, सूचना सिस्टम, जनसंचार, मुक्त मार्किट अर्थ व्यवस्था, मूल्यों और जीवनशैली में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका प्रभाव साहित्य, संस्कृति एवं समाज पर इतना अधिक पड़ा कि साहित्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया।"<sup>1</sup>

हिंदी में उत्तर - आधुनिकतावाद पर विचार तो हुआ है लेकिन इसको लेकर भ्रम की सी स्थिति है। विद्वानों ने इसे आधुनिकता के विरोधी के रूप में समझने की कोशिश की है तो इसे आधुनिकता का विस्तार भी माना है। हिंदी आलोचना में इसका स्वागत तो हुआ लेकिन इसकी कोई सुचिंतित पद्धति विकसित नहीं हो पाई।

हिंदी के सिद्धांतकार उत्तर - आधुनिकता को आधुनिकता का ही अगला चरण मानते हैं। सुधीश पचौरी उत्तर - आधुनिकता को पूँजीवादी विकास की नई स्थिति के रूप में देखते हैं, "आधुनिकतावाद एक सांस्कृतिक प्रत्यय है जबकि आधुनिकता एक सामाजिक प्रत्यय। आधुनिकतावादी बुद्धिजीवियों ने समाज को बदलने में जो भूमिका निभाई, उत्तर आधुनिकतावादी उसकी पड़ताल करता है और उसे समस्यापूर्ण मानता है। वह आधुनिकता की स्वायत्तता की धारणा को खण्डित मानता है और कहता है कि कुछ भी स्वायत्त नहीं है।"<sup>2</sup> बैजनाथ सिंहल के अनुसार, "उत्तर - आधुनिकता निःसन्देह आधुनिकता की प्रतिस्थिति है। आधुनिकता ने विचारधाराओं, वृत्तान्तों के रूप में जो कुछ सामने रखा था, उत्तर आधुनिकता ने उसे अमान्य घोषित कर दिया और इसके साथ संस्कृति से लेकर समाज तक कितनी ही और अमान्यताओं की घोषणा की है।"<sup>3</sup>

कैलाश वाजपेयी उत्तर - आधुनिकता को तुरंत घटित घटना न मानकर इसे एक लम्बी प्रक्रिया मानते हैं, "वह एक तरह की परिणति है, चाहे तो इसे दुर्गति भी कह सकते हैं। ऐसी दुर्गति

<sup>1</sup> देवेन्द्र इस्सर, उत्तर आधुनिकता: साहित्य और संस्कृति की नई सोच, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 59

<sup>2</sup> सुधीश पचौरी, उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 35

<sup>3</sup> बैजनाथ सिंहल, उत्तर आधुनिकता: स्वरूप और आयाम, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृष्ठ - 3

जिसके बीज आदमी की तथाकथित प्रगति में ही विद्यमान थे।”<sup>1</sup> उत्तर - आधुनिकता को नकारात्मक रवैया मानते हुए देवेन्द्र इस्सर ने इस पर कई सवाल उठाए हैं, “क्या उत्तर आधुनिकता एक मानसिक स्थिति है? क्या एक आन्दोलन या विचारधारा है? क्या यह एक नकारात्मक रवैया है जो आधुनिकता के विरुद्ध उभरकर सामने आ रहा है और उसकी समस्त सम्पदा - चिंतन, दर्शन, विचारधारा, व्यवस्था, साहित्य, सभ्यता और मूल्यों को नष्ट - भ्रष्ट कर रहा है। उत्तर आधुनिकतावाद सामाजिक एवं ऐतिहासिक चिंतन की सम्पूर्णता के समस्त विचारों को रद्द करता है।”<sup>2</sup>

उत्तर - आधुनिकतावाद ने साहित्य की समाज सापेक्षता को नकारते हुए व्यक्तिवादी साहित्य पर अधिक बल दिया है। जिसमें यथार्थ, क्रमबद्धता तथा समग्रता को नकारा गया है तथा इतिहास और परम्परा का विरोध किया गया है। उत्तर - आधुनिकतावाद व्यक्ति को यंत्रिकरण तथा उपभोक्तावाद के हवाले करता है। बच्चन सिंह इसे अराजकतावादी प्रवृत्ति कहते हैं, “उत्तर - आधुनिकता में कम्प्यूटर युग, दूर संचार माध्यम, टेक्नोलॉजी के कारण जो नई स्थितियां पैदा हुई हैं उन्हीं से उत्तर - आधुनिकतावादी चेतना का विकास हुआ है। इसमें तर्क, यथार्थ, इतिहास, रूप सबका नकार है। यह एक अराजकतावादी निहलिस्ट प्रवृत्ति है।”<sup>3</sup>

भारत में जिस समय आधुनिकतावादी आंदोलन चल रहा था तब तक पश्चिमी देशों में इसका अगला चरण उत्तर - आधुनिकतावाद शुरू हो चुका था, “बीसवीं शताब्दी उत्तर - औद्योगिक क्रांति का अदभुत युग है। इस युग में समाज, संस्कृति, राजनीति, कला, साहित्य, दर्शन, संगीत, इतिहास, अर्थव्यवस्था और पूरे मानव - चिंतन में जो परिवर्तन - चक्र तीव्रगति से घूमा है - उस स्थिति - परिस्थिति की ओर ध्यान दिलाने वाला नाम है - ‘उत्तर - आधुनिकतावाद’।”<sup>4</sup>

उत्तर - आधुनिकतावाद ने जीवन तथा साहित्य को व्याख्यायित करने का अपना नजरिया विकसित किया जिसने मार्क्सवाद को नकारते हुए, “मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय आलोचना को

<sup>1</sup> कैलाश वाजपेयी, आधुनिकता का उत्तरोत्तर, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 7

<sup>2</sup> वही, पृष्ठ - 7

<sup>3</sup> डा. बच्चन सिंह, आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 28

<sup>4</sup> कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर - आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका से

महत्त्वहीन घोषित कर दिया। भारत में भी उत्तर - आधुनिकतावादियों ने प्रगतिवादी साहित्यकारों को अपना निशाना बनाया।”<sup>1</sup> उत्तर - आधुनिकतावादियों ने प्रगतिवादी साहित्यकारों को घटिया नारेबाजी करने वाले साहित्यकार कहा।

उत्तर - आधुनिकतावादी दृष्टि आधुनिकता के विरुद्ध नहीं बल्कि आधुनिकता के आगे की स्थिति है। जहाँ आधुनिकता ने मनुष्य को मध्यकालीन भावबोध से मुक्त कर एक नया क्षितिज प्रदान किया था वहीं उत्तर आधुनिकता ने उसे सभ्यता, संस्कृति, दर्शन व साहित्य से अलग कर पुनः धुंधलके में डाल दिया। भौतिक विज्ञान तथा औद्योगीकरण के बाद उत्तर - आधुनिकतावाद धीरे - धीरे मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में फैल गया। इसने साहित्य को भी पूरी तरह से प्रभावित किया। यूरोप के देशों में जन्मा यह वाद वैज्ञानिक तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति की समानता, स्वतंत्रता तथा भाईचारे की बात उठाता है तथा सामन्तवादी मूल्यों का खण्डन करता है।

उत्तर - आधुनिकतावाद ने साहित्यिक मूल्यों को काफी हद तक बदला। हिंदी साहित्य पर 1940 के आस - पास उत्तर - आधुनिकतावादी प्रभाव दिखाई देने लगा। जो अज्ञेय के प्रयोगवाद में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में प्रकट हुआ। आधुनिकतावाद ने व्यक्ति की घुटन, निराशा तथा कुण्ठा का यथार्थवादी चित्रण किया, “पश्चिमी चिंतन और साहित्य पर छाये क्षणवाद, संशयवाद, कुण्ठावाद, लघुमानववाद, अस्तित्ववाद, और उससे संलग्न अजनबीपन, अकेलेपन, आत्मकेन्द्रीयता आदि यथार्थ विरोधी, पतनशील और अमानवीय मूल्यों ने आधुनिकतावाद और विश्वमानवतावाद के आवरण में हमारे साहित्य में प्रवेश किया और हमारे साहित्य की राष्ट्रीय और जनवादी परम्परा पर हमला बोल कर उसे कमजोर किया।”<sup>2</sup>

भारत में स्वतंत्रता आंदोलन के बाद उत्तर - आधुनिकतावाद ने साहित्यिक आंदोलन का रूप ग्रहण किया, जिसे ठोस रूप अकविता तथा अकहानी के माध्यम से मिला, “उन्नीसवीं सदी के दौरान यहां समाज और वस्तुगत को तर्क और तथ्यों के आधार पर समझने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हुआ और व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं गरिमा, सभी मनुष्यों की समानता और शिक्षा हासिल

<sup>1</sup> डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 106

<sup>2</sup> वही, पृष्ठ - 104

करके आर्थिक उन्नति करने के अवसर उपलब्ध कराने जैसे जनतांत्रिक आदर्शों को अपनाने के लिए प्रेरित करने वाले अनेक आंदोलन उभर कर आए जिसका प्रभाव हम तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में देख सकते हैं।<sup>1</sup> कहा जा सकता है कि आधुनिकतावाद तथा उत्तर - आधुनिकतावाद ने परम्परा को तोड़ते हुए यंत्रिकरण तथा व्यक्तिवादी मूल्यों को प्राथमिकता दी तथा व्यक्ति की सामाजिकता को खत्म करने का प्रयास किया।

उत्तर - आधुनिकतावाद ने साहित्य की आलोचना को भी प्रभावित किया। मार्क्सवाद के वर्गीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत समग्रता में जो विमर्श चल रहे थे उनको अब टुकड़ों - टुकड़ों में दलित, स्त्री, आदिवासी, किसान आदि को केन्द्र में रखकर आलोचना की जाने लगी है, “उत्तर - आधुनिकता ने स्थानीय लघु आंदोलनों (जिनका गैर - राजनीतिक किस्म का चरित्र होता है) के समर्थन का ढोल पीटकर अपनी वैधता की रक्षा की है। इसमें पर्यावरण, नारीवादियों, अश्वेतों, दलितों, समलैंगिकों इत्यादि के आंदोलन सम्मिलित किए जाते हैं।”<sup>2</sup>

उत्तर - आधुनिकतावाद साहित्य अध्ययन की सभी दृष्टियों का नकार करते हुए तथा उनके अंत की घोषणा करते हुए स्वयं को स्थापित करती है, “उत्तर - आधुनिकतावादी दृष्टि सभी पुरानी दृष्टियों को ‘पतनशील’ तथा अर्थहीन मानती है। उत्तर - आधुनिकता घोषित तौर पर कहता है कि साहित्य में महान आख्यान (मेटा नैरेटिव) का युग समाप्त हो गया है और अब कोई न तो सर्वमान्य आलोचना सिद्धांत है, न हो सकता है। इसी आधार पर संरचनावाद, प्रतीकवाद, फ्रायडवाद, मार्क्सवाद, सौंदर्यशास्त्र, नई समीक्षा, अस्तित्ववादी विचार दृष्टि, मिथकीय आलोचना को उत्तर - आधुनिकतावाद ने नकार दिया है।”<sup>3</sup> मार्क्सवादी आलोचक इसे साहित्य के लिए एक खतरे के रूप में देखते हैं।

उत्तर - आधुनिकतावाद के अंतर्गत विखण्डनवाद, उत्तर - संरचनावाद आदि साहित्यिक सिद्धांतों का जन्म हुआ, जिनसे साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि बदली। विखण्डनवाद में साहित्य को

<sup>1</sup> डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 106

<sup>2</sup> परिकथा, शंकर (सम्पा.), अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 47

<sup>3</sup> कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 23

खण्ड - खण्ड में बांटकर इसकी व्याख्या करने पर बल दिया गया है। साहित्यिक कृति को पूर्णता में देखने का यह पक्षधर नहीं है। विखण्डनवादियों का मानना है कि किसी भी कृति का सम्पूर्णता में अर्थ खोजना उचित नहीं है क्योंकि उसका प्रत्येक शब्द तथा प्रत्येक पंक्ति का अलग अर्थ होता है, “मूलतः यह हर प्रकार की केन्द्रीयता से - वह अर्थ की हो या वर्चस्व की, इन्कार करता है। विखण्डनवादी दृष्टि का मानना है कि हर पाठ की एक से अधिक व्याख्याएं संभव होती हैं। इसलिए उसकी कोई व्याख्या अंतिम व्याख्या नहीं हो सकती। व्याख्या की प्रामाणिकता का प्रश्न इसलिए बेमानी हो जाता है क्योंकि प्रामाणिकता का भी कोई प्रमाण नहीं होता।”<sup>1</sup>

इस प्रकार आलोचना रचना को प्रत्येक कोने से समझकर उसकी व्याख्या करती है। रचना के साथ तालमेल बैठकर अनेक प्रक्रियाओं से होते हुए आलोचना का विकास होता है, जिसमें विचारधारा अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है। विचारधारा आलोचना के लिए खाद - पानी का काम करती है, बिना विचारधारा के आलोचना निर्जीव होती है। विचारधारा के तहत ही आलोचना के लिए अनेक सिद्धांतों का निर्माण हुआ है जिनके माध्यम से अलग - अलग रूपों में कृति की आलोचना होती है।

---

<sup>1</sup> निर्मला जैन, काव्य - चिंतन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 190